गांधी स्मारक निधि का मासिक मुखपत्र

संस्थाकुल

वार्षिक सहयोग राशि : रु. 20.00
एक प्रति : रु. 2.00
कुल पृष्ठ : 12

जून, 2023 वर्ष – 54 अंक – 3

दस्तावेज़:

हिंसा से क्रान्ति नहीं होती

जयप्रकाश नारायण

राजनीतिक उद्देश्य से प्रेरित ग्रामीण हिंसा में वृद्धि को देखते हुए देशभर में इधर बहुत चिन्ता प्रकट की गयी है। इसमें सन्देह नहीं कि अंशतः यह हिंसा राजनीतिक विचारधारा से प्रेरित कृत्रिम प्रयासों का परिणाम है; लेकिन यदि गरीबी, बेकारी और बहुत सारे सामाजिक–आर्थिक अन्याय कायम नहीं होते और इससे हिंसा के पनपने के लिए जमीन नहीं तैयार की गयी होती, तो यह हिंसा जड़ कदापि नहीं पकड़ती। . . . यदि वर्तमान सुधार–कानून ही समुचित रूप से कार्यान्वित कर दिये जायं, तो ग्रामीण क्षेत्र में एक लघु सामाजिक क्रान्ति हो जायेगी। मेरा यह कथन अगर सत्य है तो इसका विपर्यय भी उतना ही सत्य है। **ग्रामीण हिंसा में यह जो वृद्धि हम देख रहे हैं, वह इतने लम्बे अर्से तक इन कानूनों को कार्यान्वित न कर सकने का ही अनिवार्य परिणाम है। इस हिंसा के जनक तथाकथित नक्सलवादी नहीं हैं, बल्कि वे हैं, जिन्होंने लगातार इतने वर्षों तक उक्त कानूनों की अवज्ञा की है और उनके उद्देश्यों को पराजित किया है – चाहे वे राजनेता हों, प्रशासक हों, भूमिपति हों, या महाजन हों।** वे बड़े किसान, जिन्होंने हदबन्दी कानून को बेनामी तथा फर्जी बन्दोबस्तियों के जरिये धोखा दिया है; वे भद्र लोग, जिन्होंने सरकारी जमीन और गांव की सामूहिक भूमि हड़प रखी है; वे भूमिपति जिन्होंने अपने बटाईदारों को कानूनी हक देने से हमेशा इनकार किया है और उन्हें उनकी जमीन से बेदखल किया है तथा जो अपने मजदूरों को कम मजदूरी देते रहे हैं और उन्हें बासगीत भूमि से भी वंचित कर रखा है; वे व्यक्ति, जिन्होंने धोखाधड़ी या जबरदस्ती से कमजोर–वर्ग के लोगों की जमीन छीन ली है; वे तथाकथित ऊंची जाति के लोग जो हरिजन भाइयों को हमेशा घृणा की नजर से देखते रहे हैं, उनके साथ बुरा व्यवहार करते रहे हैं तथा उनके प्रति सामाजिक भेदभाव बरतते रहे हैं; वे महाजन जिन्होंने अत्यधिक ब्याज वसूल करते हुए गरीबों तथा कमजोरों की जमीन अधिकृत कर ली है; वे राजनेता, प्रशासक और सभी अन्य लोग जिन्होंने इन अन्यायपूर्ण कार्यों में मदद पहुंचायी है या उन्हें प्रोत्साहित किया है – ये सभी लोग इस स्थिति के लिए जिम्मेवार हैं कि आज गरीबों और दलितों के मन में अन्याय, दुःख और उत्पीड़न–जन्य भावना इकट्ठी हो गयी है जो अब हिंसा के रूप में बाहर निकलने का मार्ग ढूढ़ रही है। इस स्थिति के लिए ये कानून की अदालतें और न्याय पाने की पद्धतियां तथा उसके लिए चुकाये जानेवाले मूल्य भी जिम्मेवार हैं, जिन्होंने हमारे समाज के दुर्बल वर्गों के साथ षड़यन्त्रपूर्वक न्याय नहीं होने दिया है। फिर यह शिक्षा की व्यवस्था और नियोजन का ढंग भी जिम्मेवार है, जो अपने गलत तरीके से शिक्षित, निराश और बेकार युवकों की बढ़ती हुई सेना तैयार कर रहे हैं और आर्थिक विषमताओं को भी बढ़ा रहे हैं, जिसके फलस्वरूप विभिन्न वर्गों का और भी अधिक

'5 जून'
सम्पूर्ण–क्रान्ति–दिवस

ध्रुवीकरण हो रहा है और फिर ये राजनेता भी जिम्मेवार हैं, जिनकी स्वार्थ–साधन की भावना ने लोकतन्त्र को, दलीय व्यवस्था को और उसकी विचार–धाराओं को मजाक की वस्तु बना दिया है।

जब स्थिति ऐसी है और जब लोकतंत्र की संस्थाएं और प्रक्रियाएं इतने दयनीय रूप से त्रुटिपूर्ण हैं तो क्या आश्चर्य कि असंतोष, निराशा, क्षोभ और अभाव कुछ लोगों के दिमाग को हिंसा की तरफ मोड़ दे और वे उसको ही एकमात्र तारक शक्ति मान बैठें ?

लेकिन यह सब तो हम समझ सकते हैं। फिर भी यह पूछना प्रासंगिक है कि क्या हिंसा तारक सिद्ध होगी, जैसा कि उसके बारे में विश्वास दिलाया जाता है ? ऐसा तो नहीं है कि हम इतिहास की प्रथम हिंसक क्रान्ति की प्रभात–बेला में हैं, जिससे यह अपेक्षा हो कि वह 'धरती के अभागों के लिए' मुक्ति का नया दिन ला देगी। अब तक ऐसी अनेक क्रान्तियां हो चुकी हैं और इस कारण उनकी वह चमक बहुत कुछ धूमिल हो चुकी है और साथ ही उनके प्रति विकर्षण की भावनाएं पैदा हुई हैं। इस प्रश्न की विस्तारपूर्वक समीक्षा करने के लिए यह स्थान नहीं है। फिर भी उसे समुचित परिप्रेक्ष्य में रखने के लिए कुछ मुद्दों की चर्चा यहां की जा सकती है।

पहली बात तो यह है कि राजनीतिक हिंसा क्रान्तिकारी और प्रतिक्रान्तिकारी भी हो सकती है। यह निश्चित नहीं है कि हिंसक क्रान्तिकारी आन्दोलन हमेशा सामाजिक क्रान्ति की तरफ ही हमें ले जायेगा। उसमें से प्रतिक्रिया भी पैदा हो सकती है और अन्त में वह एक फासिस्ट तानाशाही का रूप ले सकती है। ... अथवा, अंततः उसमें से अराजकता, व्यापक दुःख–कष्ट, राष्ट्रीय विघटन एवं गुलामी के परिणाम भी पैदा हो सकते हैं। जो लोग हिंसा का प्रचार करते हैं, उन्हें इन सम्भावनाओं पर विचार करना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि क्रान्तियां क्रान्तिकारियों की बिलकुल मर्जी पर ही नहीं हुआ करतीं। क्रान्ति की सफलता के लिए सामजिक एवं ऐतिहासिक परिस्थितियां परिपक्व होनी चाहिए। इसमें पूरी शताब्दी लग सकती है, जैसा कि इतिहास में अक्सर हम देखते है। भारत में हिंसा के जो पक्षधर हैं, वे तेलंगाना के रक्तपात के समय से ही क्रान्ति करने का प्रयास कर रहे हैं। लेकिन इन ... वर्षों में वे कहां तक आगे बढ़े हैं ? हिंसक क्रान्ति के आयोजन में कम समय लगता है, यह एक भोली मान्यता है; इससे अधिक गलत और कोई बात नहीं हो सकती।

तीसरी बात यह है कि लम्बी तैयारी के बाद जब क्रान्ति अंततः सफल भी होती है, तो उसकी इस 'सफलता' का क्या अर्थ होता है ? उसका अर्थ इतना ही होता है कि पुरानी समाज–व्यवस्था को ध्वस्त किया जा चुका है। लेकिन ध्वंस ही किसी क्रान्ति का लक्ष्य नहीं हो सकता। उसका लक्ष्य तो हमेशा एक नयी समाज–व्यवस्था का निर्माण करना होता है। लेकिन हिंसक क्रान्ति के सफल होने के बाद क्रान्तिकारियों को, जिनका पहला काम हमेशा यह देखा गया है कि वे सत्ता के लिए आपसी खूनी संघर्ष में पिल पड़ते हैं, अपने सपनों का समाज – जो सपने आपसी रक्तपात में बह न गये हों – बनाने में कितना समय लगता है ? इतिहास में क्या ऐसी एक भी सामाजिक क्रान्ति हुई है, जो अपने अभीष्ट आदर्शों को प्राप्त करने में सफल हुई हो ? जरा फ्रेंच–क्रान्ति पर तथा उसके समानता, स्वतन्त्रता एवं भ्रातृत्व के आदर्शों पर विचार कीजिये। फिर रूसी क्रांति और लेनिन के इस उद्घोष पर भी विचार कीजिये कि क्रान्ति के बाद सम्पूर्ण सत्ता सोवियतों (पंचायतों) – श्रमिक सोवियतों, सैनिक सोवियतों, किसान सोवियतों – के हाथ में होगी। रूसी क्रान्ति को हुए इतने वर्ष हो गये और अब भी रूसी जनता के सर पर ... तानाशाही मजबूती से कायम है। कोई नहीं कह सकता कि यह तानाशाही और कितने दिनों तक कायम रहेगी और सोवियतों के हाथ में सत्ता कब आयेगी।

चौथी बात यह है कि यद्यपि सभी क्रान्तियों में केन्द्रीय प्रश्न सत्ता का ही होता है और सभी क्रान्तियों का आयोजन जनता के लिए सत्ता प्राप्त करने के नाम पर किया जाता है, तथापि सत्ता हमेशा ही क्रान्ति करनेवालों में से ऐसे मुट्ठीभर लोगों द्वारा हड़प ली जाती है, जो सबसे ज्यादा निर्मम होते हैं। ऐसा होना अनिवार्य ही है, क्योंकि सत्ता बन्दूक की नली से निकलती है और बन्दूक सामान्य जनता के हाथ में नहीं, बल्कि हिंसा के उन संगठित तंत्रों के हाथ में रहती है जो हर सफल क्रान्ति में से 'क्रान्तिकारी' सेना➪

क्या हो गया है सहिष्णुता की हमारी परंपरा को!

राजेन्द्र भट्ट

बात शुरू करें आजीवकों/चार्वाक-पंथियों से – भारत का सबसे पुराना, धार्मिक आस्थाओं पर बेहद कड़वा प्रहार करने वाला नास्तिक या 'निहिलिस्ट' समुदाय। इतिहासविद् बेहतर बता सकते हैं पर मेरे सामान्य अध्ययन के अनुसार, इनका अपना मूल साहित्य उपलब्ध नहीं है। जो है, वह इनके बारे में, या इनका खंडन करते हुए, इनकी आलोचना में धार्मिक आस्थावानों का रचा हुआ है। फिर भी, चार्वाक-दर्शन को छह दर्शनों में स्थान दिया गया और इनके कथित प्रणेता आचार्य बृहस्पति को ठीक-ठाक सम्मान भी दिया गया।

लेकिन कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं पढ़ा कि आस्था को निर्भयता से, कटु शब्दों से चुनौती देने वाले इन नास्तिकों से आम लोगों की भावनाएं इतनी आहत हो गई हों कि उन्होंने इन्हें खदेड़ कर मारा हो, डराया हो, हत्याएं की हों।

फिर बौद्ध और जैन परंपरा पर आते हैं। ये भी स्थापित वैदिक/ब्राह्मण परंपरा की विरोधी थीं। लेकिन बुद्ध और महावीर को अपने विचार फैलाने में रोकने के कोई हिंसक, डरावने प्रयास हुए हों, ऐसे प्रसंग नहीं सुने। दोनों ही श्रमण महापुरुषों और उनके प्रमुख शिष्यों के बिना किसी सुरक्षा के ताम-झाम के उत्तर भारत के बड़े इलाके में घूमने के विवरण हैं, छवियां हैं। ये माना जाता है कि बुद्ध के समय के कोई साढ़े तीन सौ साल बाद, दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व में शुंग शासकों ने बौद्धों पर हिंसक, अत्याचार किए, उनकी इमारतें-प्रतिमाएं गिराईं। लेनिक यहां भी ध्यान देने की बात यह है कि यह हिंसा भी शासकों और उनके कारिंदों द्वारा की गई है। शासकों द्वारा की जाने वाली हिंसा और उसके जरिए उन्माद पैदा करने के प्रायः राजनीतिक कारण अधिक प्रबल होते हैं ताकि पराजित शासक, उसके सहयोगी और विचारधाराएं आतंकित रहें और लोगों में धार्मिक उन्माद पैदाकर अपनी सत्ता के औचित्य को साबित किया जा सके, अपने पक्षधर 'विद्वान', धर्मगुरु खड़े कर अपने पक्ष में माहौल बनाया जा सके। लेकिन ऐसे प्रयासों के बावजूद, ऐसे शायद कोई प्रसंग सामूहिक स्मृति में नहीं आते कि 'करतल शिक्षा, तरतल वास' करने वाले किसी अरक्षित भिक्षु को गांव-नगरी के आम लोगों ने इसलिए खदेड़ा या मारा हो कि उसके विचारों से उनकी भावनाओं और आस्थाओं को ठेस लगी हो अथवा उनका धर्म खतरे में आने की आशंका हो गई हो। उल्टे अपने देश में तो कड़वा बोलने वाले बाबाओं को भी भिक्षा जरूर दी जाती थी।

चौदवीं सदी के बाद से भारत में भक्ति की विविधतापूर्ण धारा में अनेक भाव-छवियां हैं। निर्गुण हैं, राम-भक्त हैं, कृष्ण-भक्त हैं, सूफी हैं लेकिन सभी का मूल स्वभाव राज्याश्रय से दूर रह कर अपने प्रभु के साथ सीधा तादात्म्य बनाने का रहा है। रहीम जैसे दरबार में रह रहे कवियों की भी भाव-धारा चाटुकारिता की नहीं, अपने

➪तथा उसकी सहायक जमातों के रूप में पैदा होते हैं। इन तन्त्रों पर जिनका नियंत्रण होता है, उनके ही नियंत्रण में सत्ता रहती है। यही कारण है कि हिंसक क्रान्ति हमेशा किसी-न-किसी प्रकार की तानाशाही को जन्म देती है। और फिर यही कारण है कि क्रान्ति के बाद शासकों एवं शोषकों का एक नया विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग कालान्तर में पैदा हो जाता है, जिसके अधीन बहुसंख्यक जनता फिर एक बार गुलाम हो जाती है।

इसलिए मैं तो कहूंगा कि नहीं, **हिंसा कभी तारक नही सिद्ध हुई है, जैसा कि पीड़ित और शोषित लोगों को समझा दिया गया है। टॉल्स्टॉय की एक प्रसिद्ध उक्ति है, जिसको थोड़ा बदलकर कहा जा सकता है कि क्रान्तिकारियों ने जनता के लिए सब कुछ तो किया है, केवल पीठ पर से उतरने का कष्ट नहीं किया है!**

मुसहरी – (मुजफ्फरपुर, बिहार)–प्रयोग, 1970–71 के अनुभवों पर आधारित पुस्तक : आमने सामने, पृष्ठ 31–36 से साभार

प्रभु से लौ लगाने और नैतिक जीवन तथा आस्तिकता में लीन रहने की है। इन संतों, कवियों में बड़ी संख्या कथित सवर्ण, कर्मकांडी परंपरा से बाहर के संतों की है जो धर्मों–संप्रदायों की कुरीतियों, पाखंड और वर्णानुक्रम (हाइरार्की) को निर्भीक, कड़वे शब्दों में चुनौती देते हैं।

अगर कबीर को हम इस परंपरा का प्रतिनिधि मानें और पाखंड, कुरीतियों और प्रभु–वर्गों के खिलाफ उनके शब्दों को देखें तो लगता है कि इनके निशाने पर आ रही कोई भी सत्ता और व्यक्ति निश्चय ही तिलमिला जाते होंगे। लेकिन यहां भी ऐसा कोई प्रसंग, छवि या स्मृति नहीं है कि काशी के किसी भी व्यक्ति ने उन्हें अपनी बात कहने से रोका हो, डराया–धमकाया हो या मारपीट किया हो।

कबीर जैसे कथित 'नीची जातियों' के लोगों के 'कलियुग' में इस तरह बेखौफ मुंह खोलने को लेकर उनके परवर्ती 'गो–द्विज हितकारी' प्रभु के कर्मकांडी भक्त तुलसीदास जी को काफी खुन्नस रही होगी। कलियुग–वर्णन प्रसंग में उन्होंने 'जानिय ब्रह्म सो विप्रवर' कहने वाले द्विजों से लड़ने वाले 'शूद्रों' और सगुण राम की बजाय किसी और 'राम' की बात करने वाले (कबीर जैसों) को 'अधम, पाखंडी' वगैरह कह कर खूब भड़ास निकाली है। लेकिन, ऐसे गुस्से के बावजूद, किसी कबीर को बोलने से रोकने, उनकी 'साखी, सबद, रमैनी' को नष्ट करने के लोक–जीवन में कोई प्रयास नहीं मिलते।

यों तुलसी बाबा जैसे सनातनी और मर्यादा से एक इंच भी न विमुख होने वाले कवि भी थोड़ा मौज में आ जाते हैं तो वर्षा ऋतु के वर्णन में मेढकों के टर्राने से 'बटु–समुदाय' के बेदपाठ की तुलना कर देते हैं लेकिन, किसी को तकलीफ नहीं हुई, किसी पढ़ी–लिखी या अनपढ़ सेना की भावनाएं आहत नहीं हुई। दूसरी ओर संस्कृत भाषा में लिखी धार्मिक और साहित्यिक रचनाओं (कालिदास ले लें या पुराण ले लें) में, देव–चरित्रों के उद्दाम काम–वर्णन, छेड़–छाड़ और चुहल से भी उस जमाने में भी कोई तकलीफ नहीं हुई। (गनीमत है कि आज के 'गर्व करने वालों' ने स्वाभाविक रूप से कुछ नहीं पढ़ा तो इन किताबों को भी नहीं पढ़ा।)

कबीर यूरोप के कोपरनिकस, ब्रूनो और गैलीलियो से करीब सौ साल पुराने थे। इन वैज्ञानिकों की चर्च–विरुद्ध मान्यताओं के लिए उन्हें जलाया गया या माफी मांगने पर मजबूर किया गया या प्रतिबंधित कर दिया गया। पर अपने देश–समाज में, कबीर और उनके जैसे संतों को पाखंडों पर फटकार लगाने से वे आम लोग भी हिंसक गुस्से में नहीं आए जो पूर्ण सनातनी–वर्णाश्रमी थे।

ऐसा ही एक उदाहरण पांचवीं शताब्दी के गणितज्ञ आर्यभट्ट का है। उन्होंने तो कोपरनिकस, गैलीलियो आदि से हजार साल पहले पृथ्वी के घूमने की बात कह दी थी जो धार्मिक साहित्य की मान्यताओं से मेल नहीं खाती थी।

आर्यभट्ट की पुस्तकें उन्नीसवीं सदी तक लुप्त हो गईं और आजतक गर्व की जाने वाली दूसरी किताबों की तरह, एक हालैंड–वासी विद्वान ने 'आर्यभटीय' को पहली बार छापा। भारत में बराहमिहिर का फलित ज्योतिष छाया रहा जिसमें सूर्य–चंद्रमा–ग्रह और काल्पनिक राहु–केतु मानवीय जीवन को प्रभावित करते रहे। आर्यभट्ट के पहले बड़े टीकाकार भास्कर प्रथम ने उनकी मान्यताओं में, धार्मिक मान्यताओं के अनुरूप बनाने के लिए तोड़–मरोड़ भी की। लेकिन आर्यभट्ट को भी, अपने समाज में गैलीलियो, ब्रूनो की तरह डराया और प्रताड़ित नहीं किया।

कहते हैं कि मुगल बादशाह औरंगजेब ने इस्लाम–विरोधी विचारों के लिए सूफी फकीर सरमद को फांसी पर चढ़ा दिया था। लेकिन यहां भी गौर करने की बात है कि सरमद तब 60 साल से ज्यादा उम्र का था और खासा लोकप्रिय भी था। यहां तक कि शहज़ादा दारा शिकोह उसे मुगल दरबार में भी लाया था। मतलब, आम लोगों को उसकी बातों से आमतौर पर कोई तकलीफ नहीं थी। जैसा शुंग राजाओं द्वारा बौद्धों के दमन का प्रसंग है, यहां भी एक बादशाह (औरंगजेब) सियासी तंदूर को गरम रखने के लिए सरमद को मरवाकर 'धर्म–रक्षक' की इमेज बना रहा था (खासतौर पर अपने विरोधी दारा शिकोह के दोस्त को मरवाकर)। लेकिन आमलोगों ने उसी सरमद को बरसों आराम से बर्दाश्त किया था और इज्जत भी दी थी। ऊपर से तब, जब कि मुगल राज में सरमद का प्रिय शिष्य – अभयचंद एक हिन्दू था।

क्या इन सारे प्रसंगों से नहीं लगता कि अपने देश में सहिष्णुता की लंबी परंपरा रही है – खासतौर पर हमारे अवाम में।

हम विरोधी विचारों पर चिढ़ सकते थे, उन्हें बुरा–भला➪

भारत–विचार

अशोक वाजपेयी

इधर एक नया भारत बनाने का दावा बहुत क्रूर और नृशंस ढंग से कुछ शक्तियां करने लगी हैं। उनका दावा यह भी है कि एक एकनिष्ठ, गैर–समावेशी भारत, जिसमें बहुसंख्यक पूरे नागरिक होंगे और अल्पसंख्यक दोयम दर्जे के नागरिक, असली भारत–विचार है। इस सिलसिले में 'भारत–विचार के बचाव में' विषय पर 'अनहद' द्वारा हाल ही में आयोजित परिसंवाद प्रासंगिक था। उसमें हुई चर्चा में मुझ लेखक के अलावा इतिहासकार, अर्थशास्त्री और पत्रकार शामिल थे।

मुझे लगा कि भारत–विचार को जो ठोकरें, चोटें, घाव और हमले इधर एक दशक में लगी हैं उन्हें हिसाब में लेना जरूरी है। इस पर सोचना भी जरूरी है कि क्या भारत–विचार, जिसके केंद्र में समावेशी भारत है, सिर्फ कल्पना या अवधारणा भर है, महान विचार या कल्पना जबकि भारत का यथार्थ, सामाजिक यथार्थ, व्यवहार आदि उससे हमेशा काफी दूर रहे हैं ? क्या यह विचार आधुनिकता से उपजा है और इसकी भारतीय परंपरा में कोई उपस्थिति या सक्रियता नहीं रही है।

जो समावेशिता इस विचार के केंद्र में है उसका निषेध संसार में हर कहीं हो रहा है। अगर आर्थिक दर में वृद्धि नागरिकों की बढ़ती हुई सुख–सुविधाएं, यातायात में अपार सुगमता, आत्मनिर्भरता, विश्व प्रतिष्ठा, आत्मविश्वास आदि, बिना समावेशिता के संभव लग रहे हैं तो समावेशी भारत, भारत–विचार की किसको दरकार है ?

इस समय भारतीय समाज में कई भीषण और गहरी दरारें पड़ चुकी हैं – जो पहले से थीं उन्हें और चौड़ा किया जा रहा है। सड़कें भर चौड़ी नहीं हुई हैं, सामाजिक दरारें भी चौड़ी की जा रही हैं, की गई हैं। इस समय हिंसा–हत्या–बलात्कार–बुलडोजिंग–लिचिंग–एनकाउंटर, बिना दंड के बरसों जेल की सज़ा आदि सामाजिक कर्म के उचित और लोकप्रिय प्रकार बन गए हैं। बहुत तरह की हिंसा को अगर कानूनी नहीं, तो व्यापक सामाजिक मान्यता मिल गई है।

झूठ–घृणा–भेदभाव–अत्याचार–अन्याय नई सक्षम टेक्नोलॉजी के द्वारा इतनी तेज़ी से व्यापक किए जा रहे हैं कि वे लगभग सचाई बनते जा रहे हैं। सत्तारूढ़ राजनीति

➪ भी कहते थे, कभी–कभी तोड़–मरोड़ भी करते थे, उन्हें उपेक्षा से लगभग लुप्त भी कर देते थे – लेकिन विरोधी और परंपरा–असम्मत विचारों के लिए आमलोग उग्र हिंसा और उन्माद का रास्ता नहीं अपनाते थे। (भले ही, राजे–रजवाड़े अपने तात्कालिक फायदे के लिए कभी–कभी ऐसा करते हों और सत्ता स्थिर हो जाने के बाद, वे भी आमतौर पर ऐसी हरकतें छोड़ देते थे।) मतलब, किसी के विचारों से दूसरों को सामूहिक तौर पर चोट नहीं पहुंचती थी। हम अपने देव–चरित्रों का जिक्र करते समय, उनका पूरा सम्मान करते हुए हंस भी सकते थे और उनका श्रृंगार–वर्णन भी कर सकते थे।

तब क्या पिछले कुछ वर्षों से, अपने समाज में यह बुनियादी, आमूल गुणात्मक परिवर्तन आ गया है ? क्या हम बात–बात में षड़यंत्र की आशंका से जबड़े कसने लग गए हैं ? क्या हजारों वर्षों से 'जिसकी हस्ती नहीं मिट सकी', ऐसे समाज के वंशज इस अमृतकाल में असुरक्षित होने का माहौल बना रहे हैं और क्यों बना रहे हैं ? क्या उन्मादी भीड़ के साथ मत–भिन्नता और व्यंग्य–परिहास अब हिंसा की आशंका से डरावना हो रहा है ?

क्या चार हजार साल से अपनी संस्कृति–समाज–धर्म के टिके रहने का सुकूनदेह एहसास, पिछले कुछ सालों में कमजोर हो गया है और हमारे अवाम को काल्पनिक भयों से, कुछ 'लुंपेन' तत्त्व विचलित कर सकते हैं कि वे आलोचना, मत–भिन्नता, परिहास या व्यंग्य को सहजता से लेने वाला अपना सदियों का आत्म–विश्वास और बड़प्पन खोने लगे हों और चिड़चिड़े, गुस्सैल, क्षुद्रबुद्धि और संकीर्ण होने लगे हों ?

खुलमखुला नीचता, अभद्रता, गाली–गलौज, खरीद–फरोख्त, कीचड़फेंकू वृत्ति आदि से राजनीति, व्यापक जरूरी मुद्दों पर बहस, या सामाजिक बहस या सभ्य सिविल संवाद को लगभग असंभव बना रही है।

इस राजनीति ने असहमति, प्रश्नांकन, विरोध–प्रतिरोध, वाद–विवाद आदि को लगभग द्रोह करार दिया है। लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं का पूरी निर्लज्जता से दुरुपयोग, लोकतंत्र की कटौती करने व उसके बुनियादी मूल्यों और मर्यादाओं को दरकिनार करने के लिए किया जा रहा है। परंपरा, इतिहास की दुर्व्याख्याएं, विस्मृति फैलाने, जातीय स्मृति अपदस्थ करने का एक सुनियोजित अभियान चल रहा है।

भारत–विचार क्या है इस पर कुछ कहने के पहले यह सोचना जरूरी है कि यह विचार बना और विकसित कैसे हुआ है। इसका प्रबल और अकाट्य साक्ष्य है कि इस विचार को वेद–पुराण–उपनिषदों–महाकाव्यों की परंपरा से आरंभ हुआ माना जा सकता है। भारतीय दर्शनों, हिंदू–बौद्ध–जैन–इस्लाम–सिख–ईसाइयत आदि धर्मों में सन्निहित तत्वचिंतन और विवेक, अन्य सभ्यताओं से भारत के संवाद, भक्ति काव्य, गांधार स्थापत्य, मिनिएचर कला, खयाल गायकी आदि कलारूपों, आधुनिकता और स्वतंत्रता–संग्राम, भारतीय स्वतंत्रता, लोकतंत्र और संविधान ने इस विचार के रूपायन में अपनी भूमिका निभाई है। भारत–विचार भारतीय सभ्यता की उपलब्धि और सत्व है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारत–विचार के मुख्य तत्व ये हैं : बहुलता और समावेशिता, असहमति–प्रश्नवाचकता –संवाद की जगह, अन्यता का निषेध, आदान–प्रदान–खुलापन–ग्रहणशीलता, सर्वधर्म समभाव, सामाजिक गरिमा और व्यक्ति की गरिमा के द्वंद्व का समाहार और अंततः सबके लिए स्वतत्रता–समता और न्याय।

इधर जो हो रहा है उससे जाहिर है कि बहुलता को बहुसंख्यकता से अपदस्थ करने की योजना, असहमति–प्रश्नांकन–संवाद को अपराध और द्रोह बनाकर दंडित करने की व्यापक कोशिश, हर दिन नए दूसरे बनाने की चाल; सिर्फ टैक्नोलॉजी स्वागत और खुलेपन का, ज्ञान का अनादर, हिंदुत्व का प्रभुत्व और अन्य धर्मों को दोयम दर्जा देने का अभिनय; निजी गरिमा का दैनिक हनन, स्वतंत्रता–समता–न्याय में हर दिन कटौती आदि हो रहे हैं। यह भी जाहिर है कि इन दो विचारों के बीच संघर्ष लंबा चलेगा और उसे चुनावों तक महदूद अवधि के अंतर्गत देखा–समझा नहीं जा सकता।

इस वैचारिक संघर्ष के लिए हमें एक नई संग्राम–भाषा की भी दरकार है और इस संदर्भ में हम गांधीजी की अहिंसक संग्राम–भाषा का अपने समय के लिए पुनराविष्कार कर सकते हैं।

हर स्तर पर, निजी–सामाजिक–संस्थागत स्तरों पर, कई बार अकेले पड़ते हुए भी हमें हिंसा–हत्या–बलात्कार–घृणा–झूठ की राजनीति और सामाजिक व्यवहार से भौतिक–बौद्धिक–सर्जनात्मक असहयोग करना चाहिए। झूठों के घटाटोप में, झूठों को और घृणा को फैलाने में सत्ता–धर्म–मीडिया–बाजार के अभूतपूर्व और सरासर अनैतिक गठबंधन के रहते हमें सच पर इसरार, सत्याग्रह करना चाहिए इस यकीन के साथ कि सच या और उसका साथ कभी अकारथ नहीं जा सकते। हमें सविनय अवज्ञा का सहारा लेना चाहिए। हमें ऐसे सभी सार्वजनिक प्रयत्नों, अभियानों, कानूनी षड़यंत्रों आदि से अपने को न सिर्फ अलग रखना चाहिए बल्कि उनका निजी और संगठित विरोध कर सकना चाहिए जो भारत–विचार को खंडित करते हैं फिर वह उत्तर प्रदेश में बुलडोज़र–एनकांउटर की व्यापकता हो, पाठ्यपुस्तकों में ऐतिहासिक तथ्यों को हटाना हो, ज्ञान का अपमान और उपहास हो।

फिर गांधीजी को याद करें, तो यह स्पष्ट है कि हम एक भयग्रस्त समाज होते जा रहे हैं : बिना निर्भयता के हम भारत–विचार का बचाव नहीं कर सकते। हमारी परंपरा, सभ्यता और जातीय विवेक हमें निर्भयता का पाठ सिखाते रहे हैं। समय आ गया है कि हम निर्भय होकर प्रतिरोध करें। क्षत–विक्षत होकर भी भारत–विचार है और उसकी अपराजेयता में हमारा विश्वास सघन आत्मालोचन के बावजूद कतई घटना नहीं चाहिए।

(https://web.whatsaap.com)

जनता के वोट की भाषा

कुमार प्रशांत

कर्नाटक की जीत पुरानी पड़ चुकी है। इसलिए नहीं कि वह कोई व्यर्थ की जीत है। शायद ही कभी किसी राज्य की जीत का इतना गहरा और विस्तृत राष्ट्रीय परिणाम हुआ होगा। बंद, घुटते कमरे में जैसे कोई किरण उतरे या किसी सुराख से ताजा हवा की पतली–सी लहर दौड़ जाए, वैसा अवर्णनीय अहसास कर्नाटक ने राष्ट्र को दिया है। इस वक्त भारतीय लोकतंत्र को, सार्वजनिक जीवन तथा सामाजिक विमर्श को इससे बड़ी सौगात मिल ही नहीं सकती थी। यह मानसिक गंदगी, भोंड़ी प्रदर्शनप्रियता और राजनीतिक बेईमानी के खिलाफ चीत्कार सरीखी घटना है। यह राहुल गांधी की जीत नहीं है। हालांकि राहुल के बिना यह जीत संभव नहीं थी। कांग्रेस के साथ राहुल का नाता किसी विषाद सरीखा है। वे कांग्रेस के सबसे बड़े, प्रभावी नेता हैं, जिन्हें किनारे लगाने की रणनीति प्रधानमंत्री नरेन्द मोदी ने तैयार की। इसलिए नहीं कि वे 'लल्लू' हैं, बल्कि इसलिए कि मोदी को अच्छी तरह पता है कि यह आदमी और यह पार्टी ही है, जो उसे 'लल्लू' बना सकती है। इसलिए उनकी छवि खराब करने में इन लोगों ने बेहिसाब पैसा और संसाधन उड़ेला। परिवारवाद का आरोप इतने कलुषित ढंग से पिछले वर्षों में प्रधानमंत्री ने उछाला और हिन्दुत्ववादी हर डेढ़ इंची आदमी ने उसे दोहराया कि राजनीतिक सत्ता की दृष्टि से कमजोर पड़ती कांग्रेस एक पांव पर खड़ी हो गई। इससे हुआ वही जो प्रधानमंत्री चाहते थे। कांग्रेस राहुल से अलग दिखने की कोशिश करने लगी जबकि उनके बिना कांग्रेस का काम चलता नहीं है। इसमें गांधी–परिवार की अपनी कमजोरियों ने भी बड़ी भूमिका निभाई तथा पुराने कांग्रेसियों की नासमझी ने भी। यह सब कांग्रेस को भारी पड़ा।

फिर तो कांग्रेस के असली नेता को इसकी काट निकालनी ही थी। राहुल ने काट निकाली। भारत जोड़ो यात्रा पर निकल पड़े। इस यात्रा ने दूसरा कुछ किया या न किया, परिवारवाद के आरोप से राहुल को और उससे पैदा हुई झिझक से कांग्रेस को बाहर जरूर निकाल दिया। आज राहुल अपने दम पर कांग्रेस का नेतृत्व कर रहे हैं। उसका रास्ता बना रहे हैं। परिवारवाद की बात अब खाली कारतूस से अधिक मतलब नहीं रखती है। जिस तरह राहुल की मां ने कभी कांग्रेस को खड़ा किया था, राहुल आज उसी तरह कांग्रेस को खड़ा कर रहे हैं। यह परिवार अपनी कमजोरियों से भी बाहर आने की कोशिश कर रहा है।

पक्की और बहुआयामी हार

यह प्रधानमंत्री मोदी की सबसे पक्की और बहुआयामी हार है। यह उनके खोखले नेतृत्व, अर्थहीन जुमलेबाजी, सार्वजनिक धन की बिना पर अपना महिमामंडन, झूठ, दंभ, घृणा, अंतिम हद तक घिनौना सांप्रदायिक तेवर–इन सबकी सामूहिक हार है। मनुष्य की कमजोरियों को निशाना बना कर राजनीति में जो कुछ भी हासिल किया जा सकता है, उन सबकी कोशिश 2014 से ही चल रही है। यह उसकी पराकाष्ठा का दौर है। भारतीय जनता पार्टी को इसका ही घमंड रहा कि कोई भी, कैसा भी चुनाव हो हमारा अंतिम मोहरा मोदीजी हैं। वे मैदान में उतरेंगे और हवा बदल जाएगी। ऐसा होता भी रहा, लेकिन कर्नाटक में यह मोहरा पिट गया ! भाजपा इस हार से दुखी हो, यह संभव है लेकिन यदि उसमें थोड़ी राजनीतिक समझ, दूरदर्शिता और आत्मसम्मान बचा हो (कहां, किधर मुझे दिखाई तो नहीं देता) तो उसे इस हार से खुश होना चाहिए। लोकतांत्रिक राजनीतिक दल के रूप में भारतीय राजनीति में उसे अपनी जगह और अपना अस्तित्व बनाए रखना हो तो उसके लिए यह स्वर्ण अवसर है। भाजपा के लोकतांत्रिक तत्त्वों को तुरंत एकजुट होना चाहिए और मोदी–शाह नेतृत्व के रंग–ढंग के खिलाफ आवाज उठानी चाहिए।

चुनावों की जय–पराजय, सत्ता पर कब्जा जैसी मानसिकता कितनी गर्हित व खोखली होती है, यह पहले भी कई बार प्रमाणित हुआ है। अपार बहुमत वाली इंदिरा गांधी, अभूतपूर्व बहुमत वाले राजीव गांधी, गहरी शुभेच्छा के साथ गद्दी पर बिठाए गए मोरारजी देसाई, किसी वरदान की तरह कबूल किए गए विश्वनाथ प्रताप सिंह

आदि इसके ही उदाहरण हैं। लोकतंत्र की यांत्रिक प्रक्रिया से गद्दी तक पहुंच जाना सरल है, लेकिन संविधान की छलनी से पार निकलना खेल नहीं है। जिसने भी यह बात भूली या अहंकार में इसे दफनाने की कोशिश की, वह इतिहास के कूड़ेखाने में गिरा मिला। यह बात किसी भी सत्ता के लिए सही है, चाहे राज्य की हो या केंद्र की। कर्नाटक भाजपा के लिए खतरे की घंटी है या कि विनाश की शुरुआत, यह देखने की बात है। यदि इस पार्टी में कहीं, कोई अटल–तत्व बचा हो तो उसके आगे आने और सक्रिय होने की यह अंतिम घड़ी है।

जनता की वोटों की भाषा

कर्नाटक की जीत को अपनी जीत मान कर चलेगी तो कांग्रेस गड्ढे में गिरेगी। संसदीय लोकतंत्र में जनता तो वोटों की भाषा में बोलती है। उसे खोल कर समझना आपकी राजनीतिक समझ व लोकतांत्रिक आस्था पर निर्भर है। कर्नाटक में जनता ने भारत की ओर से कहा है कि उसे सांप्रदायिक ध्रुवीकरण पसंद नहीं है; अवसरवादी राजनीति पसंद नहीं है; झूठ व मक्कारी पसंद नहीं है। मोदी–शाह रणनीति लोकतंत्र को बाजार बनाने की है। उसमें नैतिकता, ईमानदारी, आदर्श, सर्वधर्म समभाव, सामाजिक संकीर्णताओं से समाज को ऊपर उठाने का संघर्ष, संवैधानिक मर्यादाएं आदि 'थोथा चना बाजे घना' से अधिक मतलब के नहीं रह गए। लेकिन कांग्रेस व दूसरे दलों के सारे अवसरवादी तत्त्वों को पार्टी में लेकर टिकट देकर सरकार बनाने, न जीते तो अवसरवादियों को खरीद लेने की कला पर मोदी–शाह का एकाधिकार नहीं है। कांग्रेस भी यह करने की कोशिश करती मिलती है, दूसरे दल भी इस राह को पकड़ने में लगे रहे हैं। अगर भारतीय लोकतंत्र के पास यही एक मात्र रास्ता है, तो चुनाव में मतदाता के पास चुनने जैसा कुछ बचा कहां है! नागनाथ–सांपनाथ का ही विकल्प यदि लोकतंत्र है तो इसकी फिक्र में हम दुबले क्यों हों ? इसलिए लोकतंत्र का खेल नहीं, खेल का रास्ता बदलना देश के राजनीतिक भविष्य के लिए जरूरी है।

राहुल ने कहा कि कर्नाटक में हमने 'घृणा के बाजार में प्यार की दुकान खोल दी है।' यह जुमला है ? हो ही सकता है, क्योंकि देश जुमलों से घायल पड़ा है। राहुल को सिद्ध करना होगा कि यह जुमला नहीं, उनकी आस्था है। आस्था है तो इसकी कीमत देने की तैयारी करनी होगी। जीत या हार चुनाव में नहीं, उससे कहीं पहले समाज में निर्धारित होती है, फिर वोट की शक्ल लेती है। हमने देखा ही है कि समाज को पतनशील बनाकर भी चुनाव जीता जा सकता है, लेकिन हम यह भी देख रहे हैं कि वह चुनावी जीत लोकतांत्रिक हार में बदल जाती है। इसलिए लोकतंत्र के भीतर छिपे इस रहस्य को पहचानने व आत्मसात करने की जरूरत है कि समाज को ऊंचा उठाना, एकरस बनाना, समता व समानता की तरफ ले जाना, निर्भय व निष्कपट बनाना संसदीय लोकतंत्र का अभिन्न दायित्व है। कर्नाटक ने यह कहा तो है लेकिन हमने इसे समझा कि नहीं, इसकी जांच करने 2024 से पहले भी कई मुकाम आने वाले हैं। भाजपा भी, कांग्रेस भी तथा विपक्ष का बिल्ला लगाए घूमने वाले सभी दल भारतीय लोकतंत्र की इस कसौटी पर परखे जाएंगे।

ठोकरें खा के भी न संभले तो मुसाफिर का नसीब, वरना पत्थरों ने तो अपना फर्ज निभा ही दिया।

निशाकर दास का देहावसान

ओडिशा के वरिष्ठ सर्वोदयकर्मी निशाकर दास का गत् 2 मई, 2023 की सुबह कोरापुट में देहावसान हो गया। भूदान–ग्रामदान–सर्वोदय–आंदोलन के निष्ठावान एवं समर्पित कार्यकर्त्ता स्व. निशाकर दास अपने सेवामय जीवन के 102 वर्ष पूरे किये थे।

भूदान–ग्रामदान आन्दोलन में कोरापुट क्षेत्र अग्रणी था। ग्राम पुनर्निर्माण की बुनियाद पर पूरे कोरापुट जिला में ग्रामस्वराज के व्यापक प्रयोग सर्वोदय के एक श्रेष्ठ अग्रणी स्व. अण्णा साहब सहस्रबुद्धे के नेतृत्व में हुआ था और निशाकर भाई उस प्रयोग में सक्रिय रूप से भागीदार रहे। सर्वोदय–सम्मेलन में बड़ी संख्या में स्थानीय साथियों को साथ लेकर भाग लेने वाले निशाकर भाई अपने मृदु स्वभाव और मिलनसारिता के कारण सहज ही पूरे सर्वोदय परिवार के आत्मीय रहे। उनका जाना विशाल गांधी–विचार–परिवार के लिए एक गहरी क्षति है।

दिवंगत आत्मा को हमारी हृदय से श्रद्धांजलि और शोकाकुल परिजनों के प्रति संवेदना! — सं

मंत्री की कलम से

गांधी मेमोरियल लेप्रोसी फाउण्डेशन (वर्धा)

गांधी स्मारक निधि द्वारा स्थापित यह संस्थान कुष्ठ–निवारण प्रवृत्तियों का दायित्व 1952 से निभा रहा है। संस्थान के मुख्य परिसर वर्धा में कुछ पुराने भवनों के जर्जर स्थिति में हो जाने के कारण उनके मरम्मत तथा नव–निर्माण की आवश्यकता हो गई थी। हाल ही में संस्थान में कुष्ठ रोगियों की शल्य–क्रिया के लिये एक नये भवन का निर्माण किया गया, जिसका उद्‌घाटन संस्थान के अध्यक्ष श्री धीरूभाई मेहता ने किया। शल्य–क्रिया से जुड़ी साधन–सामग्री भी जुटाने का प्रयास चल ही रहा है। वर्तमान में कुष्ठ रोगियों की संख्या कम हो गयी है तथा सरकारी अस्पतालों में भी इस रोग की चिकित्सा सुविधा उपलब्ध हो गयी है। अतः इस परिसर और भवनों के उपयोग को लेकर भी संस्थान में विचार–मंथन जारी है।

सेवाग्राम मेडिकल कॉलेज

मेडिकल कॉलेज की होल्डिंग ट्रस्टीज की बैठक में शामिल हुआ। चिकित्सा की दुनिया में रोज ही नई तकनीक आत्याधुनिक मशीनें आदि प्रयोग में लायी जाती हैं। संस्थान के लिए यह एक चुनौती भी होती है कि वह इस प्रयोग को ध्यान में रखते हुए स्वास्थ्य सेवा कार्य करने की उत्तम मिशाल पेश करे। मेडिकल कॉलेज और अस्पताल दोनों की ही गुणवत्ता तथा मानक उच्च स्तर की है। बैठक में संस्थान के कामकाज और भविष्य की योजना आदि पर विश्लेषण किया गया।

असम गांधी स्मारक निधि

असम गांधी स्मारक निधि का मुख्य केन्द्र तितलीया में है। 7 मई, 2023 को इस संस्थान में जंगली हाथियों ने खूब तांडव किया तथा संस्थान का बगीचा, रेशम यूनिट, खादी कुटीर और अन्य भवनों को भी खूब नुकसान पहुंचाया। इस केन्द्र की संपूर्ण काम–काज की देखभाल बहनों द्वारा ही की जाती है। इस केन्द्र को इस घटना से भारी आर्थिक क्षति पहुंची है। चूंकि सरकार इस तरह के नुकसान की भारपाई नहीं करती है और करती भी है तो वह नाम मात्र की होती है तथा उसमें वर्षो लग जाते हैं, इसलिये केन्द्र को ठीक करने, मरम्मत आदि कार्य के लिये सभी से आर्थिक सहयोग अपेक्षित है।

दक्षिण क्षेत्र कार्यकर्त्ता सम्मेलन

गांधी स्मारक निधि के दक्षिण क्षेत्र के राज्यों कर्नाटक तमिलनाडु, आन्ध्रप्रदेश, केरल, तेलंगाना के कार्यकर्ताओं का सम्मेलन केरल में 24–25 जून, 2023 को निर्धारित किया गया है।

म.प्र. गांधी स्मारक निधि

छतरपुर नगर (म. प्र.) में स्थित संस्थान के मुख्य केन्द्र पर नगरपालिका परिषद् छतरपुर द्वारा अवैध निर्माण कार्य कर लिया गया था। पिछले कुछ वर्षों से इस अवैध अतिक्रमण को मुक्त कराने के लिए लगातार प्रयास किया जाता रहा। अदालत के निर्देश पर उक्त जमीन के सीमांकन के दिन उपस्थित रहा। सीमांकन में जमीन गांधी स्मारक निधि की प्रमाणित हुई। इस केन्द्र के पदाधिकारी, कार्यकर्ता बहुत ही साहस के साथ इस कार्य में डटे रहे। इसके लिए पूरी टीम को बधाई और आभार।

सत्यभामापुर, कटक (ओडिशा)

उड़ीसा–आन्दोलन के जनक, स्वतंत्रता सेनानी मधुसूदन दास की स्मृति को सुरक्षित करने के लिए गांधी स्मारक निधि ने उनके मकान–घर को 10,000 रुपये में क्रय किया था तथा यहां एक प्रदर्शनी भी लगाई थी। गांधीजी ने सत्यभामापुर गांव के इस मकान की छत पर एक रात बिताये थे। पिछले 70 वर्षों से इस स्मृति स्थान को सम्भाला गया, सुरक्षित रखा गया। यहां कस्तूरबा स्मारक ट्रस्ट द्वारा बालिका छात्रावास तथा अन्य रचनात्मक गतिविधियां भी संचालित की जा रही हैं। अचानक पिछले माह ओडिशा सरकार की नजर इस संस्थान पर गई तथा वह इस जगह एक स्मारक का निर्माण करना चाहती है। गांधी स्मारक निधि के साथ बिना चर्चा और संवाद किये ही यह जमीन प्रशासन अपने कब्जे में करना चाहता था तथा कस्तूरबा स्मारक ट्रस्ट की गतिविधियां भी यहां बंद करवाना चाहता था। इस घटना से ओडिशा के गांधीवादियों में भारी नाराजगी है। तत्काल इस काम को रोकने के लिए सरकार को सूचित किया गया। गांधी स्मारक निधि और कस्तूरबा स्मारक ट्रस्ट को सरकार के एकतरफा निर्णय को रोकने के लिए सचेत किया गया है। दोनों संस्थाओ के स्थानिक साथियों ने मोर्चा संभाल रखा है।

– संजय सिंह

कहानी, एक कहानी की : अन्धेरे के बीच उजाले की

बेबी हालदार के बचपन से ही पिता ने परिवार की उपेक्षा की, किसी रहस्य की तरह अकसर लंबे समय तक घर से गायब रहे, और फिर एक दिन मां करीब दस साल की बेटी के हाथ में दस पैसे का सिक्का देकर, बेटे को लेकर गायब हो गई। फिर घर में दूसरी और उसके मर जाने के बाद तीसरी मां आ गई। बच्ची हर हाल में पढ़ना चाहती थी और पूरी जिद और संघर्षों के साथ सातवीं तक पहुंच गई थी। उसने बांग्ला में बहुत–सी किताबें पढ़ भी ली थी। लेकिन पिता ने बारह साल की बच्ची की, उसकी दोगुनी से ज्यादा उम्र के एक मंदबुद्धि संवेदनहीन व्यक्ति से शादी रचा दी। इस यातनामय विवाह की परिणति तेरह साल की उम्र में, बिना किसी स्नेह और सहारे के, भीषण वेदना से गुजरते हुए, मां बन जाने में हुई। यों ही, वह तीन बच्चों की मां बन गई। इन अभावों–यातनाओं के बीच भी वह, रोजी–रोटी जुटाते हुए भी, बच्चों को पढ़ाने के लिए संघर्ष करती रहीं। आंशिक सहारा था तो कुछ स्नेही रिश्तेदारों का, जो अपने अभावों के बावजूद, उसे दुलार देते थे। नई माता और पिता के घर थोड़ा स्नेह कभी मिला तो वहां जाते ही उनके घर की अशांति झेलनी पड़ती थी। फिर स्नेहशील बड़ी बहन की उसके पति ने हत्या कर दी। पति की निरंतर उपेक्षा, चरित्र पर संदेह और बर्बरता के बावजूद यह किशोरी मां लौट–लौट कर अपने ही घर लौटती रही। लेकिन जब मार–पीट असहनीय हो गई तो एक दिन, बच्चों को पढ़ा पाने और बेहतर जीवन की उम्मीद में, तीन बच्चों वाली यह बच्ची पश्चिम बंगाल में दुर्गापुर से दिल्ली के पास फरीदाबाद के लिए ट्रेन से चल पड़ी – अजानी और अनिश्चित भविष्य की राह पर। परिचितों द्वारा निरंतर अपमान, दुरदुराहट और पिता को छोड़ कर आने की फटकारों के बीच ऐसे घर से काम मिला जहां चंद पैसों के लिए उसे दिन–रात निर्ममता से जोत दिया गया – यहां तक कि बच्चों का मुख देखने का भी वक्त न दिया गया ।....

28–29 की उम्र में शायद वर्ष 2000 के आस–पास, बेबी को गुड़गांव की उच्च–मध्य वर्ग वाली सोसाइटी में प्रबोध कुमार के घर काम मिला। प्रबोध यशस्वी हिन्दी साहित्यकार प्रेमचंद के प्रपौत्र और पेशे से एंथ्रोपोलोजिस्ट थे। बेबी को यहां सुकून मिला। स्नेह मिला। प्रबोध कुमार की किताबों की आलमारी की सफाई करते समय, उन्हें बेबी की पढ़ाई–लिखाई के प्रति अनुराग का पता चला। उन्होंने बेबी के हाथों में कापी–कलम थमाई और अपने ही शब्दों में अपनी कहानी लिखने को प्रेरित किया। बांग्ला में लिखी इस कथा को प्रबोध कुमार ने हिन्दी में अनूदित किया, दोस्तों को दिखाया, उनकी प्रशंसा से प्रेरित हुए और मूल बांग्ला से पहले ही कोलकाता के रोशनाई प्रकाशन में 2002 में हिन्दी संस्करण प्रकाशित हो गया। – **आलो आंधारि (अंधेरे का उजाला)**।

आलो आंधारि लोकप्रिय हुई, देशी–विदेशी कई भाषाओं में छपी, उसने बेबी हालदार को प्रतिष्ठा दिलाई, अपने और अपने बच्चों के लिए बेहतर जिंदगी दिलाई।

अपने समाज में वेदना और जिजीविषा की गाथाओं वाली बेबी हालदार तो बहुत हैं, पर उनकी कथा से आलो आंधारि जैसी किताब बन जाए, इसके लिए साहब का प्रबोध कुमार होना जरूरी हो जाता है। दरअसल जो बेबी होती है उनके जीवन में रोजी–रोटी और छत पा जाने के संघर्ष इतने वास्तविक होते हैं कि उन्हें अपनी भाषा पर कई परतें चढ़ाकर खुद को पेश करने की गुंजाइश ही नहीं रहती। वे संघर्ष इतने निरंतर और तत्काल सुलझाए जाने की मजबूरी वाले होते हैं कि विशेषणों की सुपरलैटिव डिग्री वाली, फुर्सत वाले साधन–संपन्नों की कशीदे वाली भाषा में पेश करने का न वक्त होता है, न जरूरत।

दूसरी तरफ भौतिक साधनों के जखीरे और अहं से उत्पन्न मोह–निद्रा में डूबे अपने मध्य–वर्ग ने निस्सार विशेषणों से कुरूपित एक टकसाली, सतही भाषा गढ़ ली है जिसमें जीवन की समय गहनता और मार्मिकता पकड़ी नहीं जा पाती। और फिर वह भाषा हमारे सोच को समग्र, मार्मिक और गहन नहीं बनने देती। विडम्बना यह है कि सोच और भाषा जो एक–दूसरे के पूरक होने चाहिए, बाधक बन जाते हैं।

मसलन प्रबोध कुमार अगर क्रूर और असंवेदनशील साहब होते, तब तो इस किताब के शुरू होने का सवाल

ही नहीं होना था। लेकिन अगर प्रबोध कुमार सज्जन, उदार माने जाने वाले ऐसे साहब होते जो अपने किचन के दरवाजे के पास या बरामदे के फर्श में बेबी को बिठाकर कभी–कभी, अलग से रखे बर्तनों में नाश्ता दे देते, पगार के अलावा कुछ और पैसे कभी दे देते। उनकी भाषा–सोच उन्हें मदद करती कि उन्हें दुख भरे जीवन वाली नौकरानी से अच्छा व्यवहार करना है, उसकी मदद करनी है, फिर उसे प्रेरित कर देना है कि वह अपनी दुख गाथा लिखे, उदार प्रोत्साहन से उसके टूटे–फूटे लेखन को सुधार सुसंस्कृत कर देना है, हो सके तो छपवा भी देना है – ऐसा लेखन कि सहृदयों की आंखों में आंसू आ जाए और कथा–वर्णन में बरबस आते जा रहे विशेषणों का चरम प्रवाह बिना सोचे, बिना रोके जारी रहे। उनकी कृपा की छतरी तले बेबी का जीवन सुखी हो, यह प्रबोध कुमार की ऋणी रहे – जिसका उन्हें भी सौम्य–सा गर्व रहे, सुख रहे। लेकिन तब भी आलो आंधारि जैसी लिखी गई है, ऐसी नहीं लिखी जाती।

आलो आंधारि के संभव हो पाने से पहले प्रबोध कुमार ऊपर बताए गए भाषा–सोच से मुक्त हुए होंगे। उन्होंने उस भाषा–सोच को 'अनलर्न' किया होगा–भूला–बिसराया होगा। तभी तो वह बेबी के 'तातुश' बन पाए। मैंने बंगाली मित्रों से पूछा तो उन्होंने बताया कि बांग्ला में ऐसा शब्द नहीं है। ऐसे शब्द सुसंस्कृत भाषाओं की सीमाओं को अक्सर लांघ कर अर्थवान हो जाते हैं 'तातुश' – यानी कल्पना कीजिए ऐसे पिता की जिसमें स्नेह हो, करुणा हो, जिसके साथ दोस्त जैसा संवाद और अनुराग हो, और जो सहानुभूति की किरत न बांटे, उसमें सम–अनुभूति (एंपैथी) हो।

जब बेबी और 'तातुश' के बीच, प्रचलित भाषा–सोच का दायरा लांघते हुए एंपैथी, अनुराग और संवाद बना तो एक अनूठी भाषा–शैली में बेबी बांग्ला में 'आलो आंधारि' लिख सकी और 'तातुश' उसे हिन्दी में उतार सके। इसे ठीक से समझा पाने के लिए, इस किताब की कुछ अटपटी–सी लगती भाषा को ही इस्तेमाल करना पड़ेगा जो भाषा की हदें तोड़ती है। किताब के शुरू में 'दो चार बातें' में लिखा है :

'यह पुस्तक कोई प्रोडक्ट नहीं है जैसाकि पुस्तकें होती जा रही हैं .... प्रचलित रूप का प्रकाशन–कर्म नहीं है ... जिसमें मोहने की इच्छा तो कहीं भी नहीं है और न यह दुखड़ा रोना है। ... ऐसा जीवन जो हमारे चारों तरफ बीतता है लेकिन हम उसके मर्म के बारे में कुछ नहीं जानते और न ही जान सकते हैं क्योंकि भद्रता का तकाजा है कि हम ... अपने आस–पास की झुग्गी–झोपड़ी में रहने वालों के चूल्हे–चौके का हालचाल जानने की जिज्ञासा ही अपने भीतर पनपने न दें। बेबी हालदार की यह पुस्तक वह झरोखा है जहां से हमें वे जिंदगियां दीख पड़ती हैं जिन्हें हम देखते हुए भी नहीं देखते।'

पर जब बेबी, तातुश, उनके दोस्तों और संवेदनशील प्रकाशक के बीच सम–अनुभूति बनी तो बेबी की अजब लिखावट और व्याकरण–शून्य भाषा संवरती गई। तातुश की ये खूबी इस प्रयास में ज़रूर काम आई होगी कि यह : 'परिपाटीनुमा घटिया तरतीब को रबड़ लेकर सिलसिलेवार बैठे मिटाते रहे हैं ताकि कोरे कागज़ की खूबसूरती बरकरार रहे।' तभी तो, 'आलो आंधारि' की 'सीधी–साधी करामात की लय को उन्होंने हिन्दी में कर दिया। 'एक जुबान को दूसरी जुबान दी पर रूह को छुआ नहीं। एक बोली की भावना दूसरी बोली में बोली, रोई और मुस्कराई। दोनों बोलियों को प्रबोध कुमार ने 'एक पेट से निकली सहेलियां बना दिया।'

प्रबोध कुमार सजग थे कि बेबी की रचना को संजाने में, उन्हें अपने साहब को पीछे छोड़ना है, बेबी की सही–सही कहन को आगे रखना है। तभी तो, वह समझते हैं कि जब कहानी में कहीं–कहीं बेबी खुद को मैं न कहकर 'बेबी ने ऐसा किया' की तरह बयान करने लगती है तो दरअसल 'अपने जीवन की कुछ घटनाओं को भूलते रहने की कोशिश में उसे अब कभी–कभी ऐसा लगने लगता है जैसा वह घटनाएं उसके नहीं किसी और के साथ घटी हैं।'

प्रबोध कुमार यह भी समझते–समझाते हैं कि 'इनकम लिखने के बाद बेबी पूछ बैठी कि इसे अंग्रेजी में क्या कहते हैं ?'

और समझदार संपादक–अनुवादक की तरह, 'तातुश' बेबी की इस भाषा को 'ऐडिट' करने की नासमझी नहीं करते, जो शायद प्रबोध कुमार कर बैठते।

जैसा पीछे कहा है, जब 'गेटेड कॉलोनी' का झरोखा खुल जाता है तो बेबी जैसों का प्रेम, जिजीविषा और सहयोग का जीवन ठीक से दीखने लगता है। और हां,➪

प्रकाशन तिथि 28 / 05 / 2023
Delhi Postal Regd. No. DL (C)-05/1423/2022-2024
R.No.21841/1971 Posted at L.P.C.- Delhi. R.M.S.Delhi-6 on 1st, 2nd June, 2023

श्रद्धांजलि

महात्मा गांधी के पौत्र अरुण मणिलाल गांधी नहीं रहे

महात्मा गांधी के पौत्र और लेखक, अरुण मणिलाल गांधी का 89 साल की उम्र में 2 मई, 2023 को महाराष्ट्र के कोल्हापुर में निधन हो गया। वह कुछ समय से बीमार थे।

अरुण मणिलाल गांधी का जन्म 14 अप्रैल, 1934 को दक्षिण अफ्रीका के डरबन में हुआ था। उनके पिता का नाम मणिलाल गांधी और माता का नाम सुशीला मशरूवाला था। अरुण की शादी सुनंदा नामक एक नर्स से 1957 में हुई थी। सुनंदा का निधन 2007 में ही हो गया था। दंपति के दो बच्चे हुए – तुषार गांधी और अर्चना। सुनंदा और अरुण 1987 में अमेरिका पहुंचे और वहां उन्होंने टेनेसी के मेंफिस स्थित क्रिश्चियन ब्रदर्स युनिवर्सिटी में 1991 एम. के. गांधी इंस्टीट्यूट फॉर नानवायलेंस की स्थापना की।

दंपति ने 1997 में गांधी लीगेसी टूर ऑफ इंडिया की शुरुआत की। अरुण ने दो और यात्रा कार्यक्रम बनाए – गांधी लाइफस्केप टूर ऑफ इंडिया और गांधी सत्याग्रह टूर ऑफ इंडिया। अरुण गांधी विश्व धर्म संसद की परिषद् के न्यासी मंडल के लिए भी निर्वाचित हुए।

अरुण गांधी हालांकि स्वयं को हिंदू मानते थे, लेकिन उनका दृष्टिकोण सार्वभौमिक था। उनका दर्शन बौद्ध, हिंदू,इस्लाम और ईसाई धर्म से प्रभावित था। अपने दादा महात्मा गांधी की तरह वह भी अहिंसा के सिद्धांत में विश्वास रखते थे। उन्होंने कई पुस्तकें लिखीं, जो काफी सराही गईं।

कृष्णमंगल सिंह कुलश्रेष्ठ का निधन

विगत 6 दशक से उज्जैन के शिक्षा और समाज में अनुकरणीय योगदान देने वाले भारतीय ज्ञानपीठ संस्थान के पितृपुरुष श्री कृष्णमंगल सिंह कुलश्रेष्ठ का 9 मई, 2023 की शाम को निधन हो गया। वह अपने सेवामय जीवन के 85 वर्ष पूरे कर चुके थे। कृष्णमंगल सिंह कुलश्रेष्ठ ने अपना पूरा जीवन महिला सशक्तिकरण, शिक्षा और सामाजिक उत्थान के प्रति समर्पित किया। सर्वोदय आंदोलन के एक सेनानी के तौर पर उन्होंने युवापन से गांधी–विचार को आत्मसात किया था।

दिवंगत आत्माओं को संस्थाकुल परिवार की ओर से श्रद्धांजलि ! – सं.

➪तमाम तकलीफों के बावजूद, बेबी जैसों के जीवन में वह 'दुखड़ा, रोना' और उस तरह का पस्त–अवसाद या मृत्यु–कामना (या फिर लिजलिजी सी प्रेरणा, महिमा–वंदना का गायन गद्‌गद् 'बढ़े चलो' भाव) नहीं होते जो बिना उनका झरोखा खोले लिख–समझ लिया जाता है। बेबी जैसी संघर्षशील जिंदगियों में जीवन के अस्वीकार की न सुविधा है न समझ। उनकी बनावट, सोच और भाषा– बस जैसी है, वैसी ही है। भाषा और संस्कार की परतों और काई से मुक्त–निरावरण।

किताब के बारे में इसलिए लिखा कि इसे पढ़ने की भाव–दृष्टि बन जाए। किताब के बीच से 'कोटेशन' इसलिए नहीं दिए क्योंकि ऐसी किताबों को नदी के एक सम्पूर्ण प्रवाह–की तरह पढ़ा जाना चाहिए। सादा, सुकून भरा प्रवाह ही इनका सौन्दर्य है। होटल के स्विमिंग पूल की तरह, इनमें पानी को टुकड़ों में सजाया नहीं गया है कि कोई अलंकृत टुकड़ा आपको मुग्ध कर दे।

यह किताब इसलिए पढ़ी जानी चाहिए कि समाज के एक बड़े तबके के जीवन के बारे में यह हमें ज्यादा समझदार, संवेदनशील और गंभीर बनाती है। उन आंखों की दृष्टि में वह जमीन दिखाती है जो हम अपनी चश्मे लगी आंखों से नहीं देख पाते।

(raagdelhi.com से साभार)

स्वामी गांधी स्मारक निधि के लिए राजघाट, नई दिल्ली–110002 से संजय सिंह, गांधी स्मारक निधि द्वारा प्रकाशित व मुद्रित
जैन ऑफसेट प्रिंटर्स, 198/2–1, फारचुन टावर, रमेश मार्केट, नई दिल्ली–110065
सम्पादक – रामचन्द्र राही